

प्रश्न : आज संसार में ईश्वर की बहुत सी अवधारणाएं हैं। आपका ईश्वर के संबंध में क्या विचार है?

कृष्णमूर्ति : सबसे पहले हमें यह पता लगाना चाहिए कि अवधारणा से हमारा मतलब क्या है। सोचने की प्रक्रिया से हमारा क्या अभिप्राय है? क्योंकि अंततः हम जब किसी अवधारणा को प्रतिपादित करते हैं, जैसे ईश्वर को ही लें, तो हमारा यह प्रतिपादन, यह अवधारणा हमारे संस्कारों का ही परिणाम होती है। एक तो वे लोग हैं जिन्हें बचपन से ही ईश्वर को न मानने में प्रशिक्षित किया गया है; और दूसरे वे हैं जिन्हें ईश्वर में विश्वास का प्रशिक्षण मिला है, जैसे कि आपमें से अधिकतर हैं। अतः हम अपने प्रशिक्षण के अनुसार, अपनी पृष्ठभूमि के अनुसार, अपने मानसिक गठन, रुचियों-अरुचियों, भय-आशाओं के अनुरूप ईश्वर की अवधारणा बना लेते हैं। तो स्पष्ट है कि जब तक हम अपने सोचने की प्रक्रिया को समझ नहीं लेते, मात्र ईश्वर की अवधारणाएं बना लेने का कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि विचार तो अपनी रुचि के मुताबिक कुछ भी प्रक्षेपित कर सकता है। यह ईश्वर को निर्मित भी कर सकता है, नकार भी सकता है। हर व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियों, सुखों व पीड़ाओं के अनुसार ईश्वर को आविष्कृत अथवा विनष्ट कर सकता है। इसलिए जब तक विचार सक्रिय है, नुस्खे बना रहा है, कल्पना कर रहा है, तब तक जो समय से परे है उसे कभी नहीं खोजा जा सकता। ईश्वर या यथार्थ का अन्वेषण केवल तभी हो पाता है, जब विचार का समापन हो जाता है।

अब, जब आप पूछते हैं, “आपका ईश्वर के बारे में क्या विचार है?” तो आपने पहले से ही अपने विचारों की लीक बना ली है, है कि नहीं? विचार ईश्वर को निर्मित कर सकता है तथा जो निर्माण इसने किया है, उसका अनुभव भी कर सकता है; पर निश्चित ही वह सच्चा अनुभव नहीं है। यह तो विचार अपने प्रक्षेपण का ही अनुभव कर रहा है अतएव यह यथार्थ नहीं है। परंतु यदि आप और मैं इसकी गहराई को देख सकें, तो संभवतः विचारों के प्रक्षेपण मात्र से अधिक विराट किसी तत्त्व की अनुभूति कर पाएं।

वर्तमान समय में, जब दिन-ब-दिन बाह्य रूप से असुरक्षा बढ़ रही है, तो स्वभावतः आंतरिक सुरक्षा के लिए भी लालसा तीव्र होती जा रही है। चूंकि हमें बाहर सुरक्षा नहीं मिल पाती है, अतः हम इसे एक अवधारणा, एक विचार में खोजने लगते हैं और तब वह निर्मित कर लेते हैं, जिसे हम ईश्वर कहते हैं तथा वही अवधारणा हमारी सुरक्षा बन जाती है। सुरक्षा खोजने वाला मन यथार्थ को, सत्य को नहीं पा सकता है। जो समय से परे है, उसे समझने के लिए, विचार के जाल का ध्वस्त होना अनिवार्य है। शब्दों, प्रतीकों, प्रतिमाओं के बिना विचार बना नहीं रह सकता, केवल तब, जब मन खामोश होता है, अपनी उधेड़बुन से मुक्त होता है, तभी यथार्थ को खोज पाने की संभावना होती है। अतः यह पूछना कि ईश्वर है या नहीं, समस्या के प्रति अपरिपक्व प्रतिक्रिया है। ईश्वर के बारे में मतों का प्रतिपादन करना वस्तुतः बचकानी वृत्ति है।

जो समय से परे है, उसकी अनुभूति, उसके बोध के लिए स्पष्टतः हमें समय की प्रक्रिया को समझना होगा। मन समय का परिणाम है, यह बीते हुए कल की स्मृतियों पर आधारित है। क्या कल जो बीतते जा रहे हैं, उन सबके गुणनफल से मुक्त होना संभव है? निश्चित ही यह गंभीर समस्या है, यह विश्वास या अविश्वास का मामला नहीं है। विश्वास या अविश्वास करना तो अज्ञान की प्रक्रिया है, जबकि विचार के, समय में बांधने वाले लक्षण की समझ स्वतंत्रता लाती है और उसी में अन्वेषण हो पाता है। परंतु हममें से अधिकतर लोग विश्वास कर लेना चाहते हैं, क्योंकि यह ज्यादा सुविधाजनक रहता है। यह हमें सुरक्षा का, किसी समूह से जुड़े होने का एहसास देता है। निश्चित रूप से यह विश्वास हमें पृथक करता है, आप एक बात में

विश्वास रखते हैं और मैं दूसरी में। तो विश्वास एक बाधा की तरह काम करता है, यह विघटन की प्रक्रिया है।

अतः महत्त्व विश्वास या अविश्वास को पोसने का नहीं, अपितु यह समझ लेने का है कि यह मन ही है, विचार ही है, जो समय का निर्माण करता है। विचार समय है, और विचार जो भी प्रक्षेपित करेगा, वह समय के अंतर्गत ही होगा, इसलिए विचार संभवतः अपने आप से परे जा ही नहीं सकता। जो समय के पार है उसकी खोज करने के लिए विचार का अंत हो जाना चाहिए और यह अत्यंत दुष्कर है, क्योंकि विचार का अवसान अनुशासन से, नियंत्रण से, अस्वीकार या दमन से नहीं हो सकता। विचार का अवसान तभी होता है, जब हम विचार करने की समस्त प्रक्रिया को समझ लेते हैं तथा विचारणा को समझने के लिए अपने आप को देखना-जानना आवश्यक है। विचार ही 'स्व' है, विचार वह शब्द है जो 'मैं' के रूप में अपनी पहचान बना लेता है, तथा उच्च या निम्न, चाहे जिस स्तर पर 'स्व' को रखा जाए, होता यह विचार के ही क्षेत्र में है।

ईश्वर का, जो समय के पार है उसका पता लगाने के लिए विचार की प्रक्रिया को अर्थात् स्वयं की प्रक्रिया को समझना होगा। यह जो 'मैं' है, बहुत ही जटिल है, यह किसी एक स्तर पर ही नहीं है, बल्कि यह बहुत से विचारों, बहुत सी सत्ताओं से बना हुआ है, जिनमें से हर एक का अन्य के साथ अंतर्विरोध है। उन सभी के प्रति निरंतर सजगता होनी आवश्यक है, ऐसी सजगता जिसमें कोई चुनाव, कोई निंदा या तुलना नहीं है; तात्पर्य यह कि वस्तुस्थितियों को बिना विकृत किए, बिना उनका अर्थ बदले, जैसी वे हैं वैसी ही देखने की क्षमता का होना आवश्यक है। जो हमने देखा है, उसे जब हम आंकने लगते हैं, उसके अपने अर्थ लगाने लगते हैं, तो हम अपनी पृष्ठभूमि के अनुरूप उसे विकृत कर देते हैं। यथार्थ या ईश्वर का अन्वेषण करना हो तो विश्वास काम नहीं आ सकता, स्वीकृति या निषेध अन्वेषण में बाधक है। हम सब बाह्य रूप से और आंतरिक रूप से भी सुरक्षित होना चाहते हैं, और मन को यह बात समझ लेनी चाहिए कि सुरक्षा की खोज ही एक भ्रम है। केवल वही मन अन्वेषण कर सकता है जो अरक्षित है, किसी भी प्रकार के अधिकारभाव से मुक्त है--और यह एक दुष्कर कार्य है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सब छोड़ कर वन में या आश्रम में जा बसें, या किसी विशिष्ट विश्वास का सहारा ले कर अपने आपको अलग-थलग कर लें, बल्कि बात इसके उलट है; अलगाव में कुछ भी अस्तित्व में नहीं रह सकता। होने का अर्थ है संबंधित होना; तथा संबंध के बीचों-बीच ही हम बड़ी सहजता से, ठीक जैसे हैं वैसा ही अपने आपको देख पाते हैं। और स्वयं के समक्ष हमारा यही यथारूप प्रकटन, जिसमें किसी प्रकार की आत्मनिंदा या अपने को सही ठहराने का भाव नहीं होता, 'हम जो हैं' उसमें एक आधारभूत रूपांतरण ले आता है। प्रज्ञा का यही प्रारंभ है।

सिएटल, 16 जुलाई 1950